

मुनिश्री सुप्रभसागर जी महाराज के सान्निध्य में दिनांक 29-30 अक्टूबर 2023 को श्री दि. जैन मंदिर ऋषिनगर उज्जैन म.प्र. में
आयोजित सुरभित मैत्री राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र

भावना द्वात्रिंशतिका में शरीर और संयोगज भाव सुरभित मैत्री के सन्दर्भ में

* डॉ. आशीष जैन आचार्य शाहगढ़
(राष्ट्रपति सम्मानित)

हमारी यह जिन्दगी एक खिलौना बन गयी है, न जाने! कितनों ने हमारे जीवन के साथ खेला।

- सुरभित मैत्री । 28

प्रस्तावना - जीव संसार में शरीर सहित है और मुक्त होने पर शरीर रहित हो जाता है। संसारी जीव राग-द्वेष भावों को करता है, कर्मों का आस्रव करता है, कर्मों का बन्धन करता है और संसार में परिभ्रमण करता है। संसार के सम्बन्धों को ही अपना हितकारी सम्बन्ध मानता है, यहाँ के सुख-दुःख, सगे-सम्बन्धी, मित्र और वस्तुओं का संग्रहण आदि ही अपना मानता है और दुःख प्राप्त करता है। इस जीव का शरीर से सम्बन्ध भी भिन्न है। इस शरीर से होने वाले सम्बन्धों को ही अपना मानकर उनमें राग-द्वेष करता है। शरीर और आत्मा को एक मानता है, जिससे पर दुःख प्राप्त करता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता जानना चाहिए। कहा भी है -

अभेदविद्यथापंगोवैति चक्षुरचक्षुषि ।

अंगेपि च तथा वेत्ति संयोगादुश्यमात्मनः ॥

भेदभिन्नः यथा वेत्ति पंगोश्चक्षुरचक्षुषि ।

विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दुश्यमात्मनः ॥1584-85॥

ज्ञानार्णव1584-85

जिस प्रकार अंधे और लंगड़े को देखकर दोनों ही बातें अंधे में मान बैठते हैं कि यह आँखों से देखता भी है और जानता भी है, लेकिन जिसे भेद विज्ञान हुआ है, जो अंधे और लंगड़े के स्वरूप में जानकार है वह यह समझता है कि लंगड़ा देखता है, रास्ता बता रहा है और अंधा अपने शरीर से चल रहा है। इसी प्रकार से भेदविज्ञानी शरीर और आत्मा में भेदविज्ञान समझता है। संसारी अज्ञानी मूर्ख व्यक्ति अन्धे और लंगड़े में अन्धे को ही देखना और जानना समझता है उसी प्रकार से यह जीव भी ऐसे ही शरीर और आत्मा की भिन्नता को जाने बिना शरीर को ही आत्मा मानता है और तज्जन्य

सुख-दुःख उसे तदनुरूप प्रतीत होते हैं। अतः आत्मा संसार में इस शरीर के साथ है। संसार में शरीर का संयोग आवश्यक है, इसके बिना संसार में नहीं रह सकता है और यही संयोग ही दुःख का कारण है। आत्मा दुःखों से तो डरती है, लेकिन दुःख शरीर के संयोग से परहेज नहीं करती है, क्योंकि वह दुःखरूप इसी शरीर को चाहती है। ऐसी स्थिति में, शरीर को आनंदित करने वाले संसार के संबंध हैं। संसार के संबंध राग-द्वेष से परिपूर्ण हैं, लेकिन वे संबंध ही आनंद देने वाले होते हैं, ऐसा मानकर उसी में सुख-दुःख का खेल खेलता रहता है। जबकि जीव को चाहिए कि वह आत्मा और शरीर की भेदविज्ञानता को समझकर आत्मकल्याण के प्रति सावचेत बनें। यहाँ इसी भेदविज्ञान के भाव को आचार्यश्री अमितगति जी ने भावना द्वात्रिंशतिका में प्रकट किए हैं -

**यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।27।।**

भावना द्वात्रिंशतिका- 27

जिस आत्मा की शरीर के साथ भी एकरूपता नहीं है, उसको पुत्र, कलत्र और मित्रों से क्या एकरूपता है? चर्म के पृथक् कर देने पर शरीर के मध्य में रोम छिद्र निश्चय से कैसे ठहरते हैं? अर्थात् नहीं ठहरते हैं। आत्मा की शरीर के साथ एकरूपता नहीं है। आत्मा नवीन-नवीन शरीर धारण करती है। जहाँ जिस शरीर में पहुँच जाती है, तज्जन्य सुख-दुःख का अनुभव करती है। उस शरीरजन्य सुख मात्र सुखाभास ही होते हैं जो वास्तविकता में दुःखरूप ही हैं। जिस प्रकार से शरीर के नष्ट हो जाने पर या शरीर से चमड़ी हट जाने पर रोमकूप का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा उसी प्रकार से संसार के संबंध हैं, जब तक शरीर है तब तक पिता है, पुत्र है, स्त्री है -शरीर के नष्ट होने के बाद उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है, और न ही उनका हमसे कोई प्रयोजन है।

यहाँ पर यह विषय स्पष्ट होता है कि शरीर के साथ जिन सम्बन्धों का संयोग मानते हैं, वे शरीर से पूर्णतया भिन्न हैं। शरीर के साथ मन-वचन-काय से सम्बन्धों का संयोग जोड़ते हैं, जो कि शरीर से सर्वथा भिन्न हैं। उक्त विषय में आचार्यश्री अमितगति महाराज ने **भावना द्वात्रिंशतिका** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक शैली का है। इस ग्रन्थ पर चर्याशिरोमणि आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज के परम यशस्वी **दिगम्बर मुनिश्री सुप्रभसागर महाराज जी ने सुरभित मैत्री** नाम से हिन्दी में बृहत् टीका की है। स्तोत्रों के आधार बनाकर टीका का लेखन अत्यंत दुर्लभ है। इस कड़ी में पूज्य मुनिश्री ने एक उत्कृष्ट लेखन का कार्य किया है, जिससे जनमानस स्तोत्र पाठ में निहित

भाव को सरलता से समझकर अपने स्वरूप को समझने में उत्कृष्टतम प्रयास करेगा। इस टीका ग्रन्थ को आधार बनाकर यह शोधपत्र तैयार किया गया है।

भावना द्वात्रिंशतिका में शरीर और संयोगण भाव के सन्दर्भ श्लोक - इस कृति में आत्मतत्त्व की प्रतीति के लिए आचार्य भगवन् हम सबका मार्गदर्शन किया है, उपदेश दिया है। तदनुरूप हम उसके प्रत्येक श्लोक से आत्मवैभव को समझ सकते हैं। फिर भी शोध पत्र के लिए सीमांकन आवश्यक है, अतः निम्न चार श्लोकों को अपने शोधपत्र का सीमांकन बनाकर अपनी बात कह रहा हूँ -

1. शरीरतः शक्तिः ॥02॥
2. दुःखे सुखे सदापि नाथ ॥03॥
3. यस्यास्ति..... शरीरमध्ये ॥27॥
4. संयोगतो निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥28॥

संसारी जीव आठ कर्मों के संयोग से, राग द्वेष परिणामों के संयोग से जीव वैभाविक भावों के कारण से दुःख प्राप्त करता है। संसार में शरीर और पुत्र-मित्र-कलत्र आदि के संबंधों को अपना मानकर दुःखी है। जब जीव आत्मा और शरीर दोनों में भिन्नत्व होने पर संयोगी संबंधों के कारण उसे अपना मान लेता है, तब वह बहुत दुःखों की प्राप्त करता है। कहा है-

शरीरतः कर्तुमनन्त-शक्तिं , विभिन्नमात्मानमपास्त- दोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥02॥

- भावना द्वात्रिंशतिका -02

हे जिनेन्द्र! आपकी 1 कृपा से अनन्तशक्ति वाले सर्व दोषों से रहित अपने आत्मा की म्यान से तलवार की भाँति शरीर से पृथक् करने के लिए मेरे शक्ति हो। इस संबंध में पं. श्री धानतराय जी की भजन की पंक्तियाँ हैं-

मोहि कब ऐसा दिन आय है

सकल विभाव अभाव होंहिगे, विकलपता मिट जाए है। मोहि॥

यह परमात्म यह मम आत्म, भेद-बुद्धि न रहाय है।

ओरनिकी का बात चलावे, भेद-विज्ञान पलाय है। मोहि 1 2 11

दरसन जानें आप आपमें आपा, सो व्यवहार विताय है।

नय-परमान- क्षिनिक्षेपन- माहीं एक न औसर पाय है॥

मोहिताशा दरसन ज्ञान चरन के विकल्प, कहो कहाँ ठहराय है।

'धानत' चेतन चेतन है है, पुदगल पुदगल थाय है। मोहि ॥3॥

र पर पड़ार्थों से आत्मा की एकता कदापि सम्भव नहीं है। शरीर भी पर है, शरीर के पोषण करने से आत्मा का वैभव प्राप्त नहीं होता है। शरीर पर ध्यान देने से आत्मा से ध्यान हट जाता है आत्मा स्वभाविक है और शरीर विभाव है। कहा भी है-

मन महल में दो दो भाव जगे, इक स्वभाव है इक विभाव है।

अपने 2 अधिकार मिले,

एक स्वभाव तन तेल फुलेल इतर भी मिले, नित नवला भूषण अंग सजे।

रस भेद विज्ञान न कंठ धरा, नहीं सम्यक् श्रद्धा साज सजे॥

कहा गया है -

अन्यत्वमेव देहेन स्याद भृशं यत्र देहिनः।

तत्रैक्यं वधुभिः साथ बहिरंगैः कुंतो भवेत् ॥

-ज्ञानार्णव-150

जब इस प्राणी की देह से अत्यन्त भिन्नता है तो बहिरंग जो बेघुजन परिजन है उनमें एकता कैसे हो सकती है? ये बंयुजन तो प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई पड़ रहे हैं। एक क्षेत्र में श्री नहीं है। तो ऐसे अत्यन्त भिन्न परिजनों के साथ इस देह का एकत्व कैसे हो सकता है? देह का और जीव का अनादिकाल से परम्परा से एक क्षेत्र में रहकर भी स्वरूपदृष्टि से देखो यह अव्यन्त भिन्न है।

● सुरभित मैत्री में मुनिश्री सुप्रभसागरजी महाराज रजिस प्रकार फोटो प्रेम से फोटो अलग है और कहते हैं प्रेम अलग है, ऐसी ही शक्ति मेरे अंदर हो आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है।

मुनिश्री सुप्रभसागरजी कहते हैं - जिस प्रकार से म्यान से तलवार, तिल से तेल और दूध से घी निकालना आप जानते हैं, अनंत गुणों का पिण्ड, अनंत शक्ति युक्त, सभी दोषों से रहित आत्मा को शरीर से भिन्न की करने की शक्ति दो।

सुरभित मैत्री। भा०द्वा०/०२/टीका

पर पदार्थों से ममत्व-बुद्धि को हटाने के पश्चात् वह शरीर और आत्मा के भिन्नत्व को समझ पाता है। इसके लिए आवश्यक है कि परबुद्धि छोड़ स्व में स्थापित हो। मुनिश्री सुप्रभसागर जी सुरभित मैत्री में कहते हैं - जिसकी समता की आँख खुली है वह कभी ममता की आँख नहीं खोलता। है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है-

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्ग, योगे वियोगे भवने वने वा

निराकृताशेष-ममत्वबुद्धेः सम मनो मेडस्तु सदापि नाथ ॥३॥

भावना द्वात्रिंशतिका 03

हे खामिन! समस्त चेतन अचेतन पर पदा पदार्थों से दूरकर दिया है, ममत्व बुद्धि को जिसने ऐसा मेरा मन दुःख में, सुख में, शत्रु में, बंधु वर्ग में, संयोग में, वियोग में अथवा भवन में और वन में हमेशा ही एक समान हो।

ममेत्यस्य भावो ममत्वम् ।

मेरेपने का भाव ममत्व कहलाता है।

स्वयंभू स्तोत्र टी.।10

ममत्व बुद्धि को छोड़कर पर पदार्थों से बुद्धि स्वयमेव हट जाएगी। कहा गया है

वध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥

- इष्टोपदेश- -26

यह जीव ममता परिणाम से सहित होता हुआ कर्मों से बंध जाता है और ममता रहित होता हुआ कर्मों से छूट जाता है इस कारण सर्व प्रकार से प्रयत्न करके अपने आपको निर्ममत्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। पर पदार्थों को अपना मानना बंध का कारण और परपदार्थों में ममत्व न रखना मोक्ष का कारण है।

जो इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग में व घर की अनेक बातों में पड़कर अपने को मोहभाव के कारण परतन्त्र बना लेते हैं पर एक हैं हो जाएगा, इस वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता और अपने यथार्थ स्वभाव का भान कर लें तो उनका विकल्प संकट फिर वहाँ मोह ममत्व न रहेगा। दूर पूज्य मुनिश्री सुप्रभसागरजी महाराज सुरभित मैत्री में कहते हैं ये पक्का है जब तक कर्म है, कर्म बन्ध है तब तक कर्मोदय से सुख दुःख, बंधु-वैरी, ये सब कुछ मिलेंगे। विषय भी आयेंगे इन्द्रियों के सामने कषाय भी उत्पन्न 'होगी पर इन विषय कषाय बंधु सुख दुःख वैरी आदि सबको मात्र देखना है, जानना है, उसमें जाना नहीं है। जाओ मत, जानो। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि न अच्छा देखो, पुनश्च - न बुरा देखो, न राग करो, न द्वेष करो, न बंधु मानो, न बैरी 'मानो। जो जैसा है उसे उस परिणति में जीने दो

।३

वनम

ज्ञाता दृष्टा, परे पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि से हटाकर अपनी आत्मा और शरीर की भिन्नता को जानना और संसार के सम्बन्धों में संयोग वियोग रूप संयोगज संबंधों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिए। इसी विषय को आगे प्रस्तावित करते हुए आचार्यश्री अमितगति महाराज द्वारा कहा गया है-

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं,

तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः -

मित्रैः कुतो हिं' तिष्ठन्ति शरीर मध्ये॥

-भावना द्वात्रिंशतिका। 2

जिस आत्मा की शरीर के साथ भी ऐक्य नहीं है उसका पुत्र, स्त्री और मित्रों से क्या एकरूपता है? धर्म के पृथक् कर देने पर शरीर के मध्य में रोम छिद्र निश्चय से कैसे उहरते हैं? अर्थात् नहीं ठहरते हैं।

जहाँ देह अपनी नहीं तहाँ न अपना कोय

घर सम्पत्ति पर प्रकट है पर है परिजन लोय।।

पूज्य मुनिश्री सुप्रभसागर जी महाराज कहते हैं - हे ज्ञानी! 1 गन्ना हम चूसते हैं और जब पूरा गन्ना चूस लिया था फिर उसके अवशेष को च कचड़े में फेंक दिया जाता है, लेकिन विचार करो हमारे इस शरीर की उपयोगिता समाप्त होने पर कचड़े में नहीं फेंकता है, अपने ही जल्दी से जलाते हैं। शरीर के प्रति हमारा ममत्व का भाव ही हमें

. दोनों से एकत्व भाव की ओर आने से रोकता है। आचार्यश्री

कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में कहते हैं.

रूवं गाणं ण हवडू जम्हा रूवं ण जाणये

किंचि तुम्हा अण्णं गाणं अण्णं रूवं विणा विंति ॥

- समयसार | 392

रूप वर्ण नहीं, इसलिए है। यहाँ रूप से मतलब रंग नहीं है किन्तु रूप रस गंध स्पर्शमयी जो मूर्तता है उस मूर्तस्वरूप को ग्रहण करना अर्थात् मूर्तिकता का ज्ञान नहीं है क्योंकि वह मूर्तिकता कुछ भी नहीं जानती। इसलिए ज्ञान अन्य है और रूपीपना अन्य है, ऐसी जिनेन्द्रदेव ने भाषित किया है। मोही जीवों को जो कुछ यह दिख रहा है जिस से इसने अपना निकट संबंध बनाया है, उनमें यह आपा मानता है। रूपी पदार्थों में शरीर से भेद विज्ञान की कठिनाई के सम्बन्ध में कहते हैं - भैया! सबसे अधिक अड़चन पड़ती है शरीर को अपने से भिन्न परखने में, क्योंकि यदि थोड़ा फोड़ा हो, बुखार हो, सिर की नस चढ़ गयी हो तो भी यह क्षुब्ध हो जाता है। भेदविज्ञान करना यहाँ कुछ कठिन मालूम होता है, पर मोही जीव को तो इससे भी और बाहर का भेदविज्ञान करना कठिन लग रहा है। किसी का कोई इष्ट गुजर जाए तो यह आत्मा अपने प्राण गवां देता है, आत्महत्या कर डालता है। वहाँ भी यह धैर्य नहीं रख सकता, भेदविज्ञान नहीं कर सकता और शरीर से यदि भेद की बात समझ में आये तो बाहर के भेद की बात सुगमता से समझ में आ जाती है।

अज्ञातस्वरूपाय लुप्तबोधादिलोचनः,

जिसने अपना स्वरूप नहीं जाना है, जिसके ज्ञाननेत्र लुप्त हो गए हैं, ऐसा यह जीव इन कर्मों से ठगा जाकर अकेला ही निरन्तर इस संसार में परिभ्रमण करता है। अपने आपके इस अकेलेपन को न निखरने से ये सारी विपदाएँ अपने पर लग गयी हैं। संयोग तो दुःखमनेकभेद, यतोरनुते जन्मवने शरीरी।

ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् 112811

- भावना द्वात्रिंशतिका/28

क्योंकि प्राणी संसाररूपी वन में संयोग के कारण अनेक प्रकार वाले दुःख को पाता है इसलिए अपनी कल्याणकारिणी मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष को वह संयोग। बाह्य वस्तुओं का सम्बन्ध तीनों प्रकार से अर्थात् मन-वचन-काय से परित्याग करने योग्य है।

आत्म तत्त्व से इतर समस्त पदार्थ है। प्रत्येक प्र-पदार्थ में आर उनको पर पदार्थ कहा है। प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व ये 6 गुण पाए जाते हैं।

अस्तित्व के कारण ये पदार्थ सत् है, इनमें है पना है, इनका अस्तित्वपना है वह अस्तित्व गुण का काम है। वह अस्तित्व गुण का वह पदार्थ वही रहे, दूसरा न बन जाए, दूसरे रूप न हो जाए, अपने में ही सत् है, पर से असत् है ऐसा नियम वस्तुत्व गुण से हुआ है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे, परिणमन को छोड़कर वह विश्रान्त नहीं हो सके, यो द्रव्यत्व गुण के कारण यह निरन्तर परिणमता रहता है। अगुरुलघुत्व गुण से यह नियम बन जाता है कि यह पदार्थ अपने में ही परिणमेगा, किसी दूसरे में न परिणमेगा। प्रदेश इसमें है ही और प्रमेय भी है, इस प्रकार आत्मा में सभी पदार्थों की भाँति ये 6 गुण है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मल आदि अनेक गुण हैं किन्तु कल्पना करो कि इस आत्मा में ज्ञान गुण न होता बाकी गुण होते तो क्या स्थिति होती? क्या हो सकता था कुछ ? नहीं। जो आत्मा ज्ञानमयी है, बानधन है, ज्ञानात्मक है। इस अंतस्तत्त्व को अध्यात्मयोगी पुरुष ही जान सकता है।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धज्ञे ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः ।

बाह्यः संयोगजा भावाः मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा 112

इष्टोपदेश

बानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैं एक हूँ, अकेला हूँ अपनी सब प्रकार की सृष्टियों में - मैं ही एक परिणत होता रहता हूँ। मेरा कोई दूसरा नहीं है। शुद्ध हूँ। बानी हूँ। अर्थात् समस्त पर पदार्थों से विविक्त अपने आपके द्रव्यत्व गुण से परिणत रहने वाला हूँ योगीन्द्र के द्वारा गोचर हूँ। मेरा यह सहज आत्मस्वरूप योगीन्द्र पुरुषों के द्वारा विदित है। अन्य समस्त संयोगजन्य भाव मेरे से सर्वथा पृथक् है। संयोगो जितने भी बाह्य भाव है, रागदेवादिक है, वे सब भाव है। कर्मों के संसर्ग से संबंध से यह भाव बढ़ता है, जिसको यह प्रतीति नहीं है कि ये भाव सब संयोगी है, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते हैं। इन संयोगज भावों के सम्बन्ध में पूज्यश्री सुप्रभसागर जी लिखते हैं - 'इजिस प्रकार से बालक खिलौना टूटने पर रोता और विलखता है, चिल्लाता है; ऐसा ही थोड़ा-सा अपनों से बिछुड़ना होता है तो हम वहाँ दुःखी हो जाते हैं।'

इध्यान रखना! जहाँ-जहाँ संयोग होगा वहाँ -2 दुःख होगा। कितना बड़ा भ्रम है? हम सोचते हैं कि संयोगों को जोड़ने से सुख मिलेगा, यह भूल मत करना, दुःख का पर्यायवाची नाम संयोग है

ये मकान-दुकान-धन- पुत्र-पत्नी आदि दुःख नहीं दे रहे हैं इनके प्रति जो 'ममत्व' भाव है, कर्तृत्व और मोह है- वह उन संयोगी भाव से प्राप्त मुझे दुःख दे रहे हैं- कारण रूप वस्तु दुःख नहीं है।

सुरक्षित मैत्री । 28/ टीका

जीव स्वतन्त्र है लेकिन उसकी परतन्त्रता संसार में शरीर और संयोगी भावों से हो जाती है। इसके लिए ममत्व बुद्धि का परित्याग कर आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान को जानो। सुरभित मैत्री के शब्दों में कहें - 'इअपने मन को मना लो, संयोग सम्बन्ध ही दुःख का मूल है।'